भारत की ज्ञान परम्परा में चिंतन एवं सृजन

*डॉ. राकेश कुमार सिन्हा

सार संदर्भ

15 अगस्त, 1947, आजादी के बाद भारतीय कांग्रेस ने एक प्रेस वक्तव्य जारी किया, जिसमें कहा गया था कि 'हमें 15 अगस्त को इस प्रकार से मनाना है जिससे लोगों की मानसिकता में यह परिवर्तन आ जाए कि वह स्वतंत्र भारत के स्वाभाविक नागरिक हैं..... हमारी नियति अब हमारे हाथों में हैं.... अब हमें एक मजबूत और सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण करना है... हमें एक लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्थापित करना है... हमें व्याप्त असमानता, गरीबी और बेरोजगारी को मिटाना है..... हमें लोगों का सशक्तिकरण करना है।[1] कांग्रेस के इस संकल्प में आर्थिक एवं राजनीतिक बातों का उल्लेख तो था, परन्तु लम्बी दास्तां की जो छाया सांस्कृतिक और भारत के विचारों की दुनिया में हुआ था उसका सीधा उल्लेख नहीं था। जाहिर है राष्ट्र के सशक्तिकरण में संस्कृति और मानसिक उन्नति दोनों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। उपनिवेशवाद ने भारतीय मन को अपने अनुकूल ढालने का उपक्रम किया था, इसलिए आजादी के बाद हर भारतीय को अपनी सांस्कृतिक और सभ्यताई पहचान को प्राप्त करना भी एक कम बड़ी चुनौती नहीं थी। लेकिन भारत का प्रभावशाली राजनैतिक उपक्रम औपनिवेशिक संस्कृति से विमुक्तिकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की जगह पश्चिम के अनुकूल बने रहने का हिमायती बन गया। पश्चिम को देखकर और उसकी भावनाओं का आदर करते हुए भारत को परिभाषित करने की जो कोशिशें हुई, उसने अनौपवेशिक उपक्रम को शिथिल कर दिया। यही कारण है कि आजादी से पहले जिस प्रकार से भारत की प्राचीन सांस्कृतिक, बौद्धिक और दार्शनिक विरासत पश्चिम के विद्वानों की व्याख्या का मोहताज रही। वह क्रम चलता रहा। देशज प्रतिभाएं, जो देशी साहित्य, संस्कृति और दृष्टिकोण को आगे लेकर बढ़ना चाहते थे, उन्हें विदेशी भाषा अंग्रेजी के वर्चस्व का सामना करना पड़ा। उनके समक्ष, बौद्धिकता की पहली पंक्ति में आने के लिए एक ही विकल्प था और वह था भारतीय भाषाओं को छोड़कर अंग्रेजी के साथ चलना। यह दबदबा किस हद तक जारी रहा इसे हम इस प्रकार देख सकते हैं कि आज भी एक कन्नड़ भाषी या असमिया या मलयाली या हिन्दी भाषी ग्रामीण व्यक्ति को चिकित्सक द्वारा लिखा गया पर्चा अंग्रेजी में मिलता है और आजादी के सात दशक बाद भी न्यायालय की भाषा अंग्रेजी ही बनी रही। भाषाई आधिपत्य ने देश में सांस्कृतिक और वैचारिक आवागमन को दुष्कर बना दिया है। उसका दुष्परिणाम हमारे विमर्श में खंडित दृष्टिकोणों की परिस्थिति से दिखाई पड़ता है।

दुनियाभर में भारतीय दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है और पश्चिम के विद्वानों ने इसके महत्व को समझा भी है तथा अपने तरीके से अपने लेखन व साहित्य में उसका दोहन करते हुए आंशिक रूप से उद्धरण भी दिया है। हमने उस दार्शनिक सम्पदा को न महत्व दिया और न ही उसे आगे बढ़ाने का काम किया। पश्चिम के दार्शनिकों ने अपने विद्वता और हितों के अनुरूप उसका जिस प्रकार उपयोग किया उसका एक उदाहरण है हेरोल्ड कॉवर्ड ने पश्चिम के दार्शनिक देरिदा की तुलना भारत के दो महान दार्शनिकों शंकर और अभिनव गुप्त से की है।[2] वह देरिदा को परम्परागत भारतीय दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के बीच एक पुल मानता है।

उपनिवेशवाद ने सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता छीनने का काम नहीं किया है बल्कि वह तो आर्थिक शोषण की भी

पराकाष्ठा थी। भारत के विद्वानों भास्कर पांडुरंग तर्खंडकर, दादाभाई नौरोजी, रजनी पामदत्त, आर.सी.दत्त आदि ने भारत से लूटे जा रहे धन एवं सम्पदा पर शोध पूर्ण बातें कीं। दुर्भाग्यवश, सम्पदा की लूट स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भाषणों का हिस्सा तो खूब रही लेकिन यह एक ठोस आख्यान बनकर राजनीतिक आंदोलनों के समकक्ष स्थापित नहीं हो पाई। यही कारण है कि आजादी के बाद लिखी गई पाठ्य–पुस्तकों में साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा आर्थिक शोषण और लूट की कहानी सतही तौर पर वर्णित है। इस प्रकार के सत्य को सामने आने में चार से पांच दशक लग गए।

विचार के क्षेत्र में उपनिवेशवाद ने उन सभी तर्कों और ताकतों को दबाने का काम किया है जो भारत के भौगोलिक एवं सांस्कृति सम्प्रभुता के हिमायती थे। इसकी क्रूरता को इसी बात से समझा जा सकता है कि ब्रिटेन के एक पादरी रोज़र विलियम्स् ने ब्रिटेन के राजा की इस बात के लिए आलोचना की, कि जिस भूमि पर वहां की जनजातियां रहती हैं, उन स्थानों पर उपनिवेश स्थापित करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। इस बात के लिए उसे गिरफ्तार कर लिया गया बाद में उसका कोई पता–ठिकाना नहीं मिला। उसने लिखा था कि वह चौदह सप्ताह तक नहीं जान पाया था कि बिस्तर और रोटी का मतलब क्या है ? अगर उसने जिन भारतीयों के साथ समय बिताया, वे भोजन नहीं कराते तो वह मर गया होता।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद की क्रूरता और पाखण्ड को उजागर करने के साथ–साथ साम्राज्यवाद और भारतीय सभ्यता के बीच बुनियादी अन्तर को सामने लाना आवश्यक है। वह तभी हो सकता है जब हम अपनी स्थानीयता, अपनी मौलिकता और अपनी अभिव्यक्ति में दुनिया को देंखे, समझें और उससे संवाद करें। नकलचियों और अनुवादकों का समूह या दूसरों के सिद्धांतों की व्याख्याकारों का वर्ग कभी वैचारिक सत्ता हासिल नहीं कर पाता है। इसे हासिल करने के लिए निरन्तर तप और ज्ञान साधना की जरूरत पड़ती है, जिसका उद्देश्य लोकहित में सिद्धांतों का प्रतिपादन करना होता है। औपनिवेशिक संस्कृति ने हमारी ज्ञान परम्परा को ठेस पहुँचाई है और ज्ञान का मतलब पश्चिम को अधिक समझना और जानना तथा उसके सिद्धांतों की व्याख्या करना मात्र रह गई है। यह हमारे अपने मूल पिंड के प्रतिकूल है। वियोगी हरि ने लिखा हैं, 'ज्ञान को भारतीय परम्परा ने सबसे ऊंचा स्थान दिया है। उसे परम पवित्र माना गया है। ज्ञान का अर्थ किसी बात की बाहरी जानकारी नहीं है। निरन्तर चिन्तन द्वारा तत्व की गहराई में उतरकर प्रत्यक्ष अनुभूति को ज्ञान कहा गया है। यह त्याग, संयम और तप से प्राप्त किया जाता है।' कठोपनिषद् के नचिकेता की कथा प्रसिद्ध है। यम जो कि, साक्षात् मृत्यु था उससे, उसने ज्ञान की ही याचना की थी।[4] भारत की ज्ञान परम्परा में प्रतिबद्धता की कहानी का उल्लेख साने गुरूजी ने किया है। कहा जाता है कि पाणिनि को व्याकरण के अलावा कोई दूसरी बात सूझती ही नहीं थी। जो भी उनके पास आता, उसे वे व्याकरण ही सिखाते। एक दिन पाणिनि तपोवन में व्याकरण सिखा रहे थे, कि एकाएक बाघ आ गया। उसे देखकर वे भागे नहीं। व्याघ्र की व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ सूंघता–सूंघता आ रहा था। उन्होंने कहा, 'इस सूंघते–सूंघते आने वाले को देखो–'व्याजिघ्रति से व्याघ्रः।' पाणिनि व्युत्पत्ति समझाने के आनन्द में मग्न थे। लेकिन शिष्य कब के ही भाग गए थे। बाघ झपटकर पाणिनि को खा गया। ज्ञान की कितनी बड़ी उपासना है यह! ज्ञान का उपासक सब कुछ भूल जाता है। वह अपने उन विचारों में तन्मय हो जाता है।[5]

भारत की ज्ञान परम्परा में भारत का सभ्यताई और सांस्कृतिक परिवेश निहित है। इसीलिए इसका प्रभाव समान भारतीयों की व्यवहार प्रणाली पर पड़ा। सुन्दर लाल ने लिखा है, 'भारतवासियों में अपने और पराए का भेदभाव मौजूद नहीं था।'[6] उन्होंने आगे कहा, 'इतिहास में स्पष्ट है कि अनेक दोषों के होते हुए भी भारतवासियों के अपने वचन का पालन करना एक सामान्य नियम था, जिसके कहीं–कहीं अपवाद मिल सकते हैं। दुसरी ओर, कम्पनी के अंग्रेज प्रतिनिधियों का अपनी प्रतिभाओं का निःसंकोच उल्लंघन करना एक सामान्य नियम था; जिसका शायद ही कोइ अपवाद मिल सके इसलिए 1757 ई. से लेकर 1857 ई. तक बार–बार के प्रतिकूल अनुभवों के होते हुए भी

भारतवासियों ने सदा अंग्रेजों द्वारा ही प्रतिज्ञाओं पर विश्वास किया।[7] इसी क्रम में अंग्रेजों ने भारत की शिक्षा पद्धति को नष्ट किया और सांस्कृतिक प्रवाह को बाधित किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति को रीलिजन के आईने में प्रस्तुत करना शुरू किया। संस्कृति पर आघात मनुष्य के स्वभाव को बदलने के साथ उसकी मौलिकता का ह्रास भी करती है। इसलिए अनौपनिवेशीकरण स्वतंत्रता की दूसरी लड़ाई है। इसका तात्पर्य रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'गोरा' उपन्यास (1910) में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, 'हम अपने देश को दूसरे देश के द्वारा स्थापित न्यायालय और कानून के अन्तर्गत अपराधी के रूप में खड़ा नहीं होने देंगे। हम अपने को या तो लज्जित होने के लिए या गौरवान्वित महसूस करने के लिए कुछ पश्चिमी आदर्शों के साथ बिन्दु–दर–बिन्दु तुलना नहीं करेंगे।' इस अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ मैथलीशरण गुप्त की उन पंक्तियों में सारगर्भित रूप में निहित है, जिसमें उन्होंने भारत–भारती में लिखा है:

'हम कौन हैं, क्या हो गए और क्या होंगे अभी,
आओं विचारे मिलकर ये समस्याएँ सभी।'

ऐसा ही विचार हमारे बुनियादी सोच को आगे बढ़ाता है और नयी दृष्टि प्रदान करता है। महर्षि अरविन्द ने लिखा है, 'विचार की मौलिकता के प्रति मनुष्यों के रवैए में हमेशा ही एक स्वाभाविक झिझक और असंगति रही है। हालांकि मौलिक चिन्तन अपनी दुर्लभता, चमक और प्रभावशीलता के कारण सराहा जाता है, लेकिन व्यवहार में इन्हीं खूबियों के कारण उसे आमतौर पर खतरनाक माना जाता है। लोग उसका उपहास करते हैं और उससे भयभीत भी रहते हैं। दरअसल, मौलिकता में स्थापित विचारों को अस्त–व्यस्त कर देने की क्षमता होती है। इसीलिए तामसी व्यक्तियों और तामसी स्थितियों वाले समाजों की स्वतन्त्रता हतोत्साहित करने की कोशिशें खासतौर से की जाती हैं। उनका जोर हमेशा प्राधिकार पर रहता है। दूसरे समाजों के मुकाबले भारतीय समाज पिछले दिनों कहीं ज्यादा तामसी हुआ है। इसमें जड़ता भरी जा रही है और यह अपनी संकीर्णता में उत्तरोत्तर संतुष्ट रहने लगा है।' अनौपनिवेशीकरण का उद्देश्य इसी जड़ता को समाप्त कर अपनी मौलिकता को जीवित करना है। महर्षि वेद व्यास के अनुसार मनुष्य ही ज्ञान–विज्ञान का केन्द्र बिन्दु है और जब मनुष्य अपने आपको सांस्कृतिक विरासत और वर्तमान के यथार्थ और भविष्य की चुनौती से जोड़ लेता है तो वह विचारवान हो जाता है।

***असोसिएट प्रोफेसर**
राजनीति विज्ञान विभाग
मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सायं)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. कांग्रेस सर्कुलर, द हिन्दुस्तान टाइम्स, 21 जुलाई, 1947
2. कॉवर्ड, हेरोल्ड, 1990, देरिदा एंड इंडियन फिलॉसफी
3. कैम्ब्रिज हिस्ट्री औफ ब्रिटिश इंडिया, खण्ड–1, पृष्ठ 163–164
4. हमारी परम्परा, पृ.सं. 9
5. गुरूजी, साने. भारतीय संस्कृति
6. भारत में अंग्रेजी राज, प्रथम खण्ड,पृ.सं. 112
7. वहीं, पृ.सं. 17